व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण की विविधता और परिवर्तनशीलता है। अतः नैतिक प्रतिमानों में विविधता या अनेकता स्वभाविक ही है।

वैयक्तिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान और सामाजिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान भिन्न होगा। इसी प्रकार वासना पर आधारित नैतिक प्रतिमान, विवेक पर आधारित नैतिक प्रतिमान से अलग होगा। राष्ट्रवादी व्यक्ति की नैतिक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीयता समर्थक या मानवतावादी व्यक्ति की नैतिक कसौटी से पृथक् होगी। पूँजीवाद और साम्यवाद के नैतिक मानदण्ड भिन्न-भिन्न ही रहेंगे। अतः हमें नैतिक मानदण्डों में अनेकता को स्वीकार करना होगा। कुछ लोग यहाँ परम् शुभ की आवधारणा के आधार पर एक नैतिक प्रतिमान का दावा कर सकते हैं। किन्तु उनका यह परम शुभ या तो इन विभिन्न शुभों या हितों को अपने में अन्तर्निहित करेगा या इनसे पृथक् होगा। यदि परम् शुभ इन भिन्न-भिन्न मानवीय शुभों को अपने में अन्तर्निहित करेगा तो वह भी नैतिक प्रतिमानों की अनेकता को स्वीकार करेगा और यदि वह इन मानवीय शुभों से पृथक् होगा तो नीतिशास्त्र के लिए व्यर्थ ही होगा। क्योकि नीतिशास्त्र का पूरा सन्दर्भ मानव का संदर्भ है। नैतिक प्रतिमान का प्रश्न तभी तक महत्त्वपूर्ण है जब तक मनुष्य, मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है या मनुष्य के स्तर से नीचे उतर कर पशु बन जाता है, तो उसके लिये नैतिकता या अनैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है और ऐसे वास्तविक मनुष्य के लिये नैतिक प्रतिमान अनेक ही होंगे। क्योंकि उसका अस्तित्व बहुआयामी और अन्तर्विरोधों से युक्त है। इस प्रकार नैतिक प्रतिमानों के सन्दर्भ में अनैकान्तिक दृष्टिकोण ही सम्यक् होगा। हमारी इस स्थापना को यदि कोई नाम देना हो तो हम इसे नैतिक प्रतिमानों का 'अनेकान्तवाद' कह सकते हैं।

•

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न प्राचीन काल से ही दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है, किन्तु आज जब परिवर्तन की हवा तेजी से बह रही है और परिवर्तन के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर ही प्रश्न चिन्ह लगाया जा रहा है, तब यह प्रश्न अधिक गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह निश्चित कर लेना होगा कि उक्त परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रुचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज नीति की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि नैतिक प्रत्यय अर्थहीन है, यदि वे मात्र प्रत्ययाभास (Pseudo-concepts) हैं, तो फिर उनकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। क्योंकि यदि नैतिक मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं है, यदि ये मात्र मनोकल्पनायें हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा। दूसरे, जब हम शुभ एवं अशुभ अथवा औचित्य एवं अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं, तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जाता है।

क्या नीति की मूल्यवत्ता पर वैसा प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता है? क्या नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहें तब और जैसा चाहें वैसा बदला जा सकता है? आइये, जरा प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता अथवा गत्यात्मकता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य-परिवर्तन मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादायें आज उसे कोरी लग रही हैं और इन्हें तोड़-फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है। किन्तु यह सब मूल्य विभ्रम या मूल्य-विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्यनिषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति-सम्बन्धी धारणाओं में परितर्वन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव-इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा अवश्य है जो बना रहता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह है, स्वयं नीति की मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषय-वस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका आकार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं जो अपनी मूल्यवत्ता को भी नहीं खोते, मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं नीति की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है— एक ओर भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा और दूसरी ओर विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है; किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि प्राय: यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है; बहुधा मध्य वित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं किन्तु उनका यह तरीका विचारकों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँखों में धूल झौंकना है। हम उनका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीतिशास्त्र को आविर्भूत मानते है। हम कहते हैं यह धोखाधड़ी है, श्रमिकों और कृषकों के मष्तिष्कों को पूँजीपतियों तथा भूपतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालना है, हम कहते हैं कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष के हितों के अधीन है: जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है, शेष सब अनीति है।[१] इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता; वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक-समता की संस्थापक है; जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक-न्याय की स्थापना करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान्-सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। यदि नीति की मूल्यवत्ता का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है, तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है। यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता है तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता है और निश्चय ही उसके लिए नीति की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णत: प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है, वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवहेलना करता है, अत: पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निसृत नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धितत्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवहेलना भी करता है; अत: वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अतिसामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है।[२] अत: मनुष्य के लिए नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिश्री भी होगी।

पुनश्च, नैतिक प्रत्ययों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि-सापेक्ष मानने पर भी, न तो स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न नैतिक मूल्यों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है यदि नैतिक प्रत्यय सांवेगिक अभिव्यक्ति हैं तो प्रश्न यह है कि नैतिक आवेगों का दूसरे सामान्य आवेगों के अन्तर का आधार क्या है? वह कौन-सा तत्त्व है जो नैतिक आवेग को दूसरे आवेगों से अलग करता है? यह तो सुनिश्चित सत्य है कि नैतिक आवेग दूसरे आवेगों से भिन्न हैं। दायित्व-बोध का आवेग, अन्याय के प्रति आक्रोश का आवेग और क्रोध का आवेग, ये तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों के आवेग हैं और जो चेतना इनकी भिन्नता का बोध करती है, वही नैतिक मूल्यों की द्रष्टा भी है। नैतिक मूल्यों को स्वीकार किये बिना हम भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेगों का अन्तर नहीं कर सकते। यदि इसका आधार पसन्दगी या रुचि है, तो फिर पसन्दगी या नासन्दगी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है? क्यों हम चौर्य-कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं? नैतिक भावों की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती है। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (Whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ गठित होती हैं। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्त्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य भी हैं। पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं हैं, अपितु व्यक्ति के मूल्य-संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती हैं। वस्तुत: मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है; मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अत: इस धारणा के आधार पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे, यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, तो यह भी ठीक नहीं। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य है? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर नीति की मूल्यवत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है।[३] इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। नैतिक मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकाराने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी नैतिक मूल्यों का सृजक नहीं है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है। अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु पत्नी-प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना, कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्या-वृत्ति, सम-लैंगिकता, मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है, किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है? नग्नता को या शासनतन्त्र की आलोचना को अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना करना अनैतिक नहीं कहा जा सकेगा। मानवों के समुदाय विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या वैधानिक मान लेने मात्र से वह नैतिक नहीं हो जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभीं नहीं। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकित होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

पुन: नैतिक मूल्यों की परितर्वनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य मात्र रुचि-सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी हैं। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं, वैसे नैतिक मूल्य नहीं बदलते हैं। फैशन जितनी तेजी से बदलते रहते हैं, उतनी तेजी से कभी भी नैतिक मूल्य नहीं बदलते। यह सही है कि नैतिक मूल्यों में देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन होता है, किन्तु फिर भी उनमें एक स्थाई तत्त्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थिति विशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक हैं। अपवाद तो अपवाद है, वह मूल नियम का निषेध नहीं है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य अवश्य ही ऐसे हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय है। साथ ही नैतिक मूल्यों का परिवर्तन फैशनों के परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायित्व लिये हुए होता है। फैशन एक दशाब्द से दूसरे दशाब्द में ही नहीं, अपितु दिन प्रतिदिन बदलते रहते है; किन्तु नैतिक मूल्य इस प्रकार नहीं बदलते हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों के द्वारा आंशिक रूप से मूल्यांतरण अवश्य हुआ, किन्तु श्रमण-संस्कृति तथा ईसाइयत द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यांतरण नहीं हो सका है। आज जिस आमूल परिवर्तन की बात कही जा रही है या जिन नये मूल्यों के सृजन की अपेक्षा की जा रही है, वह भी इन पूर्ववर्ती मूल्य-धाराओं के ही किन्हीं मूल्यों की प्रधान रूप से स्वीकृति या मूल्य-समन्वय से अधिक कुछ नहीं है। मूल्य-विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव नहीं होता। नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। परितर्वन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ-विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत तक अपना विस्तार पा रहा है। आत्मीय परिजनों जाति-बन्धुओं एवं स्वधर्मी बन्धुओं का हित-साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था, किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ घटित हुई है। आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा; वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी अहिंसा के प्रत्यय को मानव जाति से अधिक अर्थ विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत तक और जैन परम्परा में वनस्पति-जगत तक अपना अर्थ-विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ मूल्यों के अर्थों का विस्तार या संकोच भी है। इसमें मूलभूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते जाते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या, हिंसा है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे अहिंसा की मूल्यवत्ता अप्रभावित है। दण्ड के सिद्धान्त और दण्ड के नियम बदल सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती। यौन नैतिकता एवं अनैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ-संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही कि पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बंध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्त्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही तथा ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगाया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है; अर्थात् मूल्यों का निर्मूल्यीकरण नहीं होता, अपितु उनका स्थान-संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हैं, वे दूसरे युग में गौण हो सकते हैं; और जो मूल्य गौण थे वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य या मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन-मूल्य साध्य स्थान पर आ जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था; न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था; किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माना जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाईयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ। आज साम्यवादी दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है, ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थितियों के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं, और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। साम्यवाद और प्रजातंत्र के राजनैतिक दर्शनों का विरोध, मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य हैं और स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य-विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धि तत्त्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुखप्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है, जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का सापेक्षित परिवर्तन ही है। कभी-कभी मूल्य-विपर्यय को ही मूल्य-परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य-विपर्यय मूल्य-परिवर्तन नहीं है। मूल्य-विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं मूल्य मान लेते हैं— जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना। दूसरे यदि 'काम' की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद-लोलुपता या पेटूपन का समर्थन किया जाये, तो यह मूल्य-परिवर्तन नहीं होगा, मूल्य-विपर्यय या मूल्याभास ही होगा। क्योंकि 'काम' या 'रोटी' मूल्य हो सकते हैं किन्तु 'कामुकता' या 'स्वाद लोलुपता' किसी भी स्थिति में मूल्य नहीं हो सकते हैं। इसी संदर्भ में एक तीसरे प्रकार का मूल्य-परिवर्तन परिलक्षित होता है। जिसमें मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी आनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो नैतिक जगत के प्रमुख मूल्य या नियामक मूल्य बन जाते हैं। अर्थ और काम ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपः नैतिक मूल्य नहीं हैं फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उसका नियमन और क्रम-निर्धारण भी करते हैं। यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं हो जाती है। पारिस्थितिक या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं। दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाये रख सकते हैं। वे दोनों मूल्य अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी अपनी मूल्यवत्ता रखते हैं। एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान् बना रहता है। लेकिन यह बात पारिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है।

मूल्य-परिवर्तन के आधार

वस्तुतः मूल्यों के तारतम्य या उच्चावच क्रम में यह परिवर्तन दैशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। मनुस्मृति में कहा गया है—

अन्ये कृत-युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युग-ह्रासानुरूपतः।।[४]

युग के ह्रास के अनुरूप सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। किन्तु युगानुरूप मूल्य-परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि पूर्वमूल्य निर्मूल्य हैं, अपितु इतना ही है कि वर्तमान परिस्थिति में उनकी वह मूल्यवत्ता या प्रधानता नहीं रह गई है जो कि उस परिस्थिति में थी। अतः परिस्थितियों के परिवर्तन से होने वाला मूल्य-परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा।

यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना है वह परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं है। दैशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारे मूल्यबोध को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसमें मात्र यही होता है कि कोई मूल्य प्रधान दिखाई देता है और दूसरे परिपार्श्व में चले जाते हैं। दैशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हो, वही दूसरे देश और काल में अविहित हो जावे। अष्टक-प्रकरण में कहा गया है—

उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालोभयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कायं च वर्जयेत् ।।[५]

दैशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य अकार्य की कोटि में और अकार्य कार्य की कोटि में आ जाता है। किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं, अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है जिसे आपवादिक अवस्था के रूप में जानते हैं। किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला मूल्य परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य-परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है। उसे वस्तुतः मूल्य-परिवर्तन कहना भी कठिन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भी सही है कि कभी-कभी दैशिक और कालिक परिस्थितियों में इतना असाधारण और कुछ स्थायी परिवर्तन हो जाता है कि जिसके कारण मूल्यों का मूल्यांतरण आवश्यक हो जाता है। किन्तु इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यत: साधन-मूल्य होते हैं। क्योंकि साधन-मूल्य आचरण से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अत: उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहा है। दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं होता है, अत: सामाजिक-नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती। उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है किन्तु उसकी यह परिवर्तनशीलता देशकाल-सापेक्ष होती है, इसमें मुख्यत: मात्र मूल्यों का संक्रमण या पदक्रम परिवर्तन होता है। अपवाद की स्थिति इन सामान्य परिवर्तनों से भिन्न प्रकार की होती है, उसमें कभी-कभी मूल्य का विरोधी तत्त्व ही मूल्यवान प्रतीत होने लगता है।

क्या आपद्धर्म नैतिक-मूल्यों की परिवर्तनशीलता का सूचक है?

क्या अपवाद की स्वीकृति नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता को ही निरस्त कर देती है? यह सत्य है कि किसी परिस्थिति विशेष में सामान्य रूप में स्वीकृत मूल्य के विरोधी मूल्य की सिद्धि नैतिक हो जाती है। महाभारत में कहा गया है—

स एव धर्म: सोऽधर्मो देश-काले प्रतिष्ठित:।
आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यावस्थिक: स्मृत: ।।[६]

अर्थात् कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब हिंसा, झूठ तथा चौर्य कर्म ही धर्म हो जाते हैं। प्राचीनतम जैन आगम आचाराङ्ग में भी कहा गया है—

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।।[७]

जो आस्रव (पाप) के स्थान होते हैं, वे संवर (धर्म) के स्थान हो जाते हैं और जो संवर के स्थान होते हैं वे ही आस्रव (पाप) के स्थान हो जाते हैं। किन्तु यह परिवर्तन साधन-मूल्यों का ही होता है। आपद्धर्म में कोई एक साध्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे मूल्य का निषेध आवश्यक हो जाता है। जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा अथवा शरीररक्षण या दूसरों के जीवन-रक्षण के लिए चोरी आवश्यक हो जाती है। मान लीजिये देश में अकाल की स्थिति के कारण हजारों लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे हों, दूसरी ओर कुछ लोगों ने अधिक मुनाफा कमाने के लिए अनाज को गोदामों मे बन्द कर रखा हो। ऐसी स्थिति में जनजीवन की रक्षा के लिए हिंसा या चोरी भी मूल्य बन जाती है और अहिंसा या अचौर्य के मूल्यों का निषेध आवश्यक लगता है। किन्तु यह निषेध परिस्थिति-विशेष तक सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर पुन: धर्म, धर्म बन जाता है और अधर्म अधर्म बन जाता है। वस्तुत: आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं, अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधना बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन-रक्षण हो एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद में एक साधन मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करता प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है। उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वत: कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभाषित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य भी बन जाते हैं। साधु पुरुष की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है, किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचारित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर जीवन का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक है, सार्वकालिक और सर्वजनीन होती है। अत: आपद्धर्म की स्वीकृति मूल्य-परिवर्तन की सूचक नहीं है। वह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य-संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है। अत: वह मूल्यान्तरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं— एक बाह्य पक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है। आपद्धर्म का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अत: उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती। मात्र कर्म का बाह्य पक्ष उसे नैतिक-मूल्य प्रदान नहीं करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का मूल्याङ्कन

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें जान डिवी का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिसमें नैतिक-आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील है और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्याङ्कनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं।[८] दूसरे शब्दों में नैतिकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का शरीर परिवर्तनशील तो है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है। किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

वस्तुत: नैतिक मूल्यों की वास्तविकता प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा पक्ष अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नाङ्कित रूप में समझा जा सकता है।[९]

१. सङ्कल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैतिक मूल्य परिवर्तनशील होता है। हिंसा का सङ्कल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरे शब्दों में कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है किन्तु कर्म का जो व्यावहिरक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। सङ्कल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अत: इस क्षेत्र में नैतिक-मूल्यों की निरपेक्षता एवं अपरिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म-योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अत: यह माना जा सकता है कि वे मूल्य जो मनोवृत्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं; किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

२. दूसरे, नैतिक-साध्य या नैतिक-आदर्श अपरिवर्तनशील होता है किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनीय होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ है वह अपरिवर्तनीय है, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते हैं। अत: साध्य-साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्यमूल्य है, वह कभी साधन-मूल्य नहीं बनेगा। मूल्य-विश्व के अनेकों मूल्य ऐसे हैं, जो कभी साधन-मूल्य है, वही कभी साध्य-मूल्य है। अत: उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थानपरिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुन: वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अत: साधनमूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

३. तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकान्तिक नहीं है। वस्तुत: नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में एकान्त रूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्त रूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य एकान्त रूप से परिवर्तनशील होंगे तो उनकी कोई नियमकता ही नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार वे यदि एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप नहीं रह सकेंगे। नैतिक-मूल्य इतने निर्लोच तो नहीं है कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढालकर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे।

परिवर्तनशीलता : प्रगति या प्रतिगति

आज परिवर्तनशीलता को प्रगति का लक्षण माना जाने लगा है, किन्तु क्या परिवर्तनशीलता प्रगति की परिचायक है? इस प्रश्न का उत्तर भी एकान्त रूप से नहीं दिया जा सकता है। परिवर्तनशीलता प्रगति भी हो सकती है और प्रतिगति भी। पुन: कोई मूल्य-परिवर्तन एक दृष्टि से प्रगति कहा जा सकता है, वहीं दूसरी दृष्टि से प्रतिगति भी कहा जा सकता है। वर्तमान युग के जीवन-मूल्य एक दृष्टि से प्रगतिशील हो सकते हैं तो दूसरी दृष्टि से प्रतिगति के परिचायक भी कहे जा सकते हैं। आज एक ओर मनुष्य का ज्ञान बढ़ा है, समृद्धि बढ़ी है, उसकी प्रकृति पर शासन करने की शक्ति बढ़ी है; किन्तु दूसरी ओर जीवन में अक्षमता बढ़ी है, वासनाएँ बढ़ी हैं, असन्तोष बढ़ा है। इसे क्या कहें प्रगति या प्रतिगति? आज नारी स्वातन्त्र्य को एवं स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को, प्रगति कहा जाता है, किन्तु पाण्डु-कुन्ती सम्वाद में जो नारी-स्वातन्त्र्य का चित्र है, उसकी अपेक्षा से तो आज का यूरोप भी पिछड़ा हुआ ही कहा जावेगा। पाण्डु कहते हैं—

अनावृता: किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ।
कामाचारविहारिण्य: स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ।।
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्म: पुराभवत् ।।[१०]

'पूर्व काल में स्त्रियाँ अनावृत्त थीं, वे भोग-विलास के लिए स्वतन्त्र होकर घूमा करती थीं, वे कौमार्य अवस्था में काम-सेवन करती थीं, वह उनके लिए अधर्म नहीं था।' आज समाज में इन्हीं मूल्यों की पुन: स्थापना करके हम प्रगति करेंगे या प्रतिगति, यह तो स्वयं हमारे विचारने की वस्तु है। केवल प्रचलित एवं परम्परागत मूल्यों का निषेध नैतिक प्रगति का लक्षण नहीं है। आज हमें मानवीय विवेक के आलोक में सर्वप्रथम मूल्यों का पुनर्मूल्याङ्कन करना होगा। हमारी नैतिक प्रगति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अर्थ होगा— उन मूल्यों की संस्थापना, जो विवेकशीलता की आँखों में मानवीय गुणों के विकास और मानवीय कल्याण के लिए सहायक हों, जिनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता जीवित रह सके। आज मनुष्य चाहे भौतिक दृष्टि से प्रगति की राह पर अग्रसर हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से भी वह प्रगति कर रहा है यह कहना कठिन ही है। एक उर्दू शायर ने कहा है —

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना,
फिर भी तरक्की न है, नीयत की खराबी है।

बौद्धिक-विकास से प्राप्त विशाल ज्ञानराशि, वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक-समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पाई है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्राधिक विश्वविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग-लोलुपता पर विवेक और संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधाओं का यह अम्बार आज भी उसके मानस को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा है। आज शीघ्रगामी आवागमन के साधनों से विश्व की दूरी कम हो गई है किन्तु हृदय की दूरी तो बढ़ रही है। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी मानव मन में अभय का विकास नहीं कर सकी है। आज भी मनुष्य उतना ही आशंकित, आतंकित, आक्रामक और स्वार्थी है जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज तो जीवन की सहजता और स्वाभाविकता भी उससे छिन गई है। आज जीवन में छद्मों का बाहुल्य है। भीतर वासना की उद्दाम ज्वालायें और बाहर सच्चरित्रता और सदाशयता का ढोंग; यही आज के मानव की त्रासदी है। इसे प्रगति कहें या प्रतिगति? आज हमें यह निश्चित करना है कि हमारे मूल्य-परिवर्तन की दिशा क्या हो? हमें मनुष्य को दोहरे जीवन की त्रासदी से बचाना है, किन्तु यह ध्यान भी रखना होगा कि कहीं इस बहाने हम उसे पशुत्व की ओर तो नहीं ढकेल रहे हैं।

सन्दर्भ :

१. Lectures in the youth League -- उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३४४-३४५।
२. Ethical Studies -- p. 223.
३. देखिए— विषय और आत्म (यशदेव शल्य), पृ० ८८-८९।
४. मनुस्मृति, १/८५।
५. अष्टकप्रकरण (हरिभद्र) २७/५ की टीका में उद्धृत।
६. महाभारत, शान्तिपर्व, ३६/११।
७. आचाराङ्ग, १/४/२/१३०।
८. Contemporary Ethical Theories, p. 163.
९. देखिये— नीति-सापेक्ष और निरपेक्ष तत्त्व— डॉ० सागरमल जैन दार्शनिक, अप्रैल १९७६।
१०. महाभारत, आदिपर्व, १२२/४-५।

•

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैनधर्म

सदाचार और दुराचार का अर्थ

जब हम सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते हैं ? शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत् और आचार, इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् या उचित है वह सदाचार है। फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते हैं किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सा तत्त्व है जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना आदि दुराचार है और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि सदाचार हैं, किन्तु वह आधार कौन-सा है जो प्रथम प्रकार के आचरणों को दुराचार और दूसरे प्रकार के आचरणों को सदाचार बना देता है? चोरी या हिंसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार है? यदि हम सत् या उचित के अंग्रेजी पर्याय (Right) पर विचार करते हैं तो यह शब्द लैटिन शब्द (Rectus) से बना है, जिसका अर्थ होता है नियमानुसार, अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है और जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय-परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध होती है, मनु लिखते हैं—

तस्मिन्देशे य आचार: पारम्पर्यक्रमागत: ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।। २/१८।

अर्थात् जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों में जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org